सप्तम अध्याय

"हरिदासी अथवा सखी - सम्प्रदाय के कृष्ण - भक्ति काव्य पर बौद्ध - धर्म का प्रभाव"

1. पूर्व कथन :

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में, लगभग सोलहवीं शताब्दी के आस-पास राधा-कृष्ण की युगल उपासना को लेकर जो एक अन्य सम्प्रदाय अस्तित्व में आया वह पहले सखी सम्प्रदाय और बाद में "टट्टी संस्थान" के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदासजी थे । उन्हीं के नाम पर उक्त सम्प्रदाय "हरिदासी - सम्प्रदाय" भी कहा गया । इनके आविर्भाव-काल के विषय में मतैक्य नहीं है । कुछ विद्वान सं0 1441 को स्वामीजी का जन्म संवत् मानते हैं, तो कुछ सं0 1485 को ।[1] श्री प्रभुदयाल मीतल ने उनका जन्म-संवत् 1569 माना है ।[2] स्वामीजी बचपन से ही विरक्त-प्रवृत्ति के थे । वे अधिक समय भगवद्भक्ति में व्यतीत करते थे । वैराग्य की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी । अतः किशोरावस्था पार करते ही उन्होंने संन्यास ले लिया और वृन्दावन के ही एक अति रमणीय तथा शान्त स्थल में रह कर सुदीर्घ काल तक तप किया ।[3] नाभादासजी ने इनकी भक्ति के विषय में निम्नलिखित छप्पय लिखा है -

आसधीर-उद्योतकर "रसिक" छाप हरिदास की ।
जुगल नाम सौं नेम, जपत नित कुन्ज बिहारी ।
अवलोकत रहै केलि सखी सुख को अधिकारी ।
गान-कला-गन्धर्व स्याम-स्यामा कौं तोषैं ।
उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं ।
नृपति द्वार ठाढे रहैं दर्सन आसा जास की ।
आसधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की ।

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भागवत सम्प्रदाय - पृ0 351
2- ब्रज के धर्म सम्प्रदाय - पृ0 450
3- डॉ0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव", वैष्णव साधना और सिद्धान्त, हिन्दी साहित्य पर उनका प्रभाव - पृ0 183

प्रचलित मान्यतानुसार स्वामीजी प्रथमतः निम्बार्क मत के अनुयायी थे, परन्तु भगवत्प्राप्ति के लिए गोपी भाव की भक्ति को एकमात्र उन्नत साधन मानकर उन्होंने इस स्वतन्त्र मत की स्थापना की । किन्तु डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक ने "सखी सम्प्रदाय" को "निम्बार्क सम्प्रदाय" से प्रकृत्या पृथक माना है । वे लिखते हैं - "कहा जाता है कि "निम्बार्क सम्प्रदाय" के सिद्धान्तों का अनुसरण करके स्वामी हरिदासजी ने अपना सम्प्रदाय चलाया किन्तु दोनों में मौलिक भेद है । हरिदासजी के अनुसार सखी भाव से उपासना करने का विधान है, जो निम्बार्क सम्प्रदाय में गृहीत नहीं होता । "सखी सम्प्रदाय" निम्बार्क के भेदाभेद - सिद्धांत का भी प्रत्यक्ष रूप से कहीं मण्डन नहीं करता ।......."टट्टी संस्थान" (वृन्दावन) में इस सम्प्रदाय की जो शिष्य परम्परा और साहित्य उपलब्ध होता है, वह भी निम्बार्क-सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता ।[1] सखी सम्प्रदाय की रस-दृष्टि में धीरे-धीरे वे रेखाएं उभरी हैं, जिनके आधार पर अन्य मधुरोपासकों एवं निम्बार्क - सम्प्रदायवादियों की मधुर भावनाओं को इनकी मधुर भावना से अलग किया जा सके ।[2] इस सम्प्रदाय के वैष्णवों ने वृन्दावन-चन्द्र की सखी-भाव से उपासना को ही अपनी साधना का एकमात्र लक्ष्य बनाया । नित्य वृन्दावन में होने वाली राधा - कृष्ण की नित्य लीला बिना सहचरीगण के कथमपि नहीं चल सकती । सखीभाव का उपास्य तत्व युगल रूप है । बौद्धों के तांत्रिक यानों में भी शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञोपाय की युगलनद्ध उपासना पर ही बल दिया गया है ।

सखी सम्प्रदाय के अन्तर्गत भक्ति को रस-रूप में ग्रहण कर करके जुगल-भक्ति रूपी रस का गुणगान किया गया । स्वामीजी श्री राधाकृष्ण के युगल स्वरूप की उपासना किया करते थे । वे उनकी लीलाओं का अवलोकन सखी-भाव से करते थे । हरिदासी सम्प्रदाय में स्वामी हरिदासजी "ललिता सखी" के अवतार माने जाते हैं । सखी-भाव की उपासना माधुर्य का भण्डार है, प्रेम का आगार है, तथा मधुर रस का भाण्डागार है ।[3] स्वामीजी की रची हुई "केलिमाल" शीर्षक पदावली

1- राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 51 - 52

2- डॉ0 प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना - पृ0 308

3- आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त - पृ0 330

विख्यात है । केलिमाल में अन्तरंग के मधुरतम भावों की सुन्दर व्यन्जना हुई है । इनके पद शास्त्रीय संगीतमय थे । वे स्वयं भी अच्छे संगीतज्ञ थे । "केलिमाल" के अलावा "सिद्धान्त के पद" रचना इनके नाम से मिलती है । केलिमाल में नित्य-विहार के 108 पद हैं, और सिद्धान्त-पद की संख्या 18 है । उक्त दोनों ग्रन्थ सम्प्रदाय के आधार-ग्रन्थ माने जाते हैं ।

इस सम्प्रदाय में भी हमें "अष्टाचार्यों" के रूप में एक प्रमुख शिष्य वर्ग मिलता है । ये अष्टाचार्य भी स्वामी हरिदास की भाँति अथवा पुष्टिमार्ग के अष्ट - सखाओं के समान कवि और महात्मा थे ।[1] इनमें से प्रमुख के नाम इस प्रकार हैं - श्री बिहारिनदासजी, श्री सरस देव, श्री किसोरीदास, श्री भागवत् रसिक, श्री सीतलदास, श्री सहचरि शरण आदि ।

सखी-सम्प्रदाय के भक्त अनन्य रसिक कहलाते हैं । यों सभी मधुरोपासक "रसिक" कहे जाते हैं, किन्तु इस सम्प्रदाय के भक्तों के लिए यह उपमा विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होती है । इसी सम्प्रदाय के श्री भगवत रसिकजी ने सम्प्रदाय की छाप रसिक बताई है - "आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप" । अर्थात् हमारे आचार्य (हरिदास जी) ललिता सखी हैं, और हमारी छाप है - रसिक । हरिदासी सम्प्रदाय की मधुर परिकल्पना निरवधि नित्यविहारमयी निकुंजलीला में प्रतिष्ठित है ।[2] विशेष बात इन रसिकों में यह है कि इनकी अनन्यता इस बात में है कि इनका उपास्य रूप केवल कुंज-बिहारी राधा-कृष्ण युगल हैं, ब्रजबिहारी या अन्य रूप नहीं ।

साम्प्रदायिक भावना के अनुरूप यह निकुंज-रस भक्तों के लिए तादात्म्य भाव से आस्वाद्य नहीं, सखी-भाव से आस्वाद्य है । वह सखियों के लिए सहचरी भाव का ही विभाव है, प्रेयसी भाव का नहीं ।[3] इस प्रकार इनकी रति में तत्सुख प्रमुख है, स्वसुख नहीं । इस सम्प्रदाय का एक मात्र उद्देश्य राधाकृष्ण की युगल-उपासना में सखी भाव का प्रचार करना था ।

1- डॉ0 सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य का इतिहास - पृ0 165

2- डॉ0 प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ0 308

3- डॉ0 प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ0 313

2। **बौद्ध – धर्म का प्रभाव** :

जैसा हम देखते आ रहे हैं कि बौद्ध-धर्म सन्यास प्रधान धर्म ।निवृत्ति मार्गी। था । सखी-सम्प्रदाय पर बौद्ध धर्म का प्रभाव इन शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है – ।1। संन्यास, ।2। व्यक्तिवाद, ।3। शरणागति, ।4। दुःखवाद ।5। अनित्यतावाद, ।6। कामनिन्दा, ।7। भाग्यवाद ।8। वैदिक धर्म का विरोध, ।9। सम्प्रदायवाद ।

।1। संन्यास – जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बौद्ध-धर्म निवृत्तिमूलक धर्म है । संन्यास ग्रहण करने पर ही व्यक्ति इस धर्म में स्वीकार्य माना जाता है । संन्यास की प्रवृत्ति हमें सखी-सम्प्रदाय में आसानी से प्राप्त हो जाती है । सर्व प्रमुख तथ्य जो है, वह यह है कि इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदासजी ने स्वयं पच्चीस वर्ष की युवावस्था में संन्यास ले लिया था ।[1] जिस आयु वर्ग में व्यक्ति की आवश्यकता उसके परिवार, समाज आदि को होती है, उस अवस्था में संन्यासी होकर कर्तव्यों से मुख मोड़ना निवृत्तिमार्गी धर्म रहा है । इसके साथ ही इन्हीं सखी-सम्प्रदायवादियों में दो प्रकार की शिष्य परम्परा विद्यमान थी । पहली विरक्त-शिष्य परम्परा व दूसरी गृहस्थ गोस्वामियों की परम्परा । यह बात भी इस सम्प्रदाय की संन्यास प्रवृत्ति की द्योतक है जो कि बौद्ध प्रभाव कहा जा सकता है । इस विरक्त अथवा वैराग्य भावना का एक उदाहरण देखिए –

बहुत कुटुम्ब बड़ा गृह गेही, सब सूना बिन श्याम सनेही ।
मृतक समान प्रान बिनु प्राणी, तिहि सिंगार भयो अभिमानी ।[2]

जौं लौं जीवै तौं लौं हरि भजु रे मन और बात सब बादि ।
दिवस चारि को हला भला, तू कहा लेइगो लादि ।।[3]

1- दे0 डॉ0 सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य का इतिहास – पृ0 163

2- हरिदासवंशानुचरित्र, यहाँ हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य पर श्रीमद् भागवत का प्रभाव ।डॉ0 विश्वनाथ शुक्ल। – पृ0 245 से साभार ।

3- ब्रजमाधुरी सार – पृ0 96

¡2¡ <u>व्यक्तिवाद</u> - संन्यास प्रधान धर्म की यह भी मूल विशेषता रही है कि वहाँ व्यक्ति का उद्धार ही मुख्य होता है। साधक साधना करता है स्वयं के मोक्ष हेतु। बाकी सारे सम्बन्धों को वह मिथ्या मानता है। यही व्यक्तिवाद हमें सखी सम्प्रदाय में इस रूप में दिखाई देता है -

हरि के नाम को आलस कत करत है रे, काल फिरत सर साँधे।
बेर कुबेर कछू नहिं जानत, चढ़यौ रहत है काँधे।
हीरा बहुत जवाहर सँचे कहा भयौ हस्ती दर बाँधे।
कहि हरिदास महल में बनिता बनि ठाढ़ी भई,
एकौ न चलत जब आवत अंत आँधे।[1]

यह व्यक्तिवादी चिन्तन संन्यास धर्म ¡बौद्ध धर्म¡ के समकक्ष है।

¡3¡ <u>शरणागति</u> - बौद्ध-धर्म की त्रिशरण ¡बुद्ध धर्म तथा संघ¡ प्रसिद्ध हैं। इनकी शरण स्वीकारने पर ही व्यक्ति बौद्ध धर्म में प्रवेश पा सकता है। साधक शरणागत होता है और अपना सर्वस्व अर्पण करके सुख का अनुभव करता है। उसका आराध्य ही उसका सब कुछ हो जाता है। इसी प्रकार की शरणागति सखी सम्प्रदाय में इस रूप में पायी जाती है -

हौं तो आयो शरण तेरी तू दया करि स्वामी।[2]

अथवा

ज्यौंही-ज्यौंही तुम राखत हो, त्यौंही त्यौंही रहियतु है हौं हरि।[3]

इन पंक्तियों में साधक ¡भक्त)का ईश्वर ¡गुरू¡¡ के प्रति सर्वात्म भावेन आत्मनिक्षेपण व्यक्त किया गया है। शरणागति का यह उदाहरण भी द्रष्टव्य है -

---

1- निम्बार्क माधुरी - पृ0 245 - 246 श्री बिहारीदासजी
2- निम्बार्क माधुरी - पृ0 244 पद 13 बिहारीदासजी
3- ब्रजमाधुरी सार - पृ0 96

रूचि लै सुचि सेवा करै, सेवक कहिये सोय ।
तन मन धन अर्पण करै, रहै अपनपौ खोय ।।
रहै अपनपौ खोय, द्रवै तब हरि गुरू देवा ।
अनमाँग्यौ सब मिलै, गूढ़ गुण जानै भेवा ।।
सँचित क्रिय प्रारब्ध, कर्म दु:ख जाइ सबै मुचि ।
"भगवत रसिक" कह्यौ, क्रिया त्यागै अपनी रूचि ।।

§भगवत् रसिकजी की वाणी§

इस प्रकार सखी सम्प्रदाय में भी सर्वात्मभावेन समर्पण का भाव है, जो बौद्ध धर्म की त्रिशरण से §शरणागति से§ समीपता रखता है ।

§5§ <u>दु:खवाद</u> - बौद्ध-धर्म के "चत्वारि आर्य सत्यानि" अथवा चार आर्य सत्यों में दु:खवाद को प्रमुखता प्राप्त है । उन्होंने "सर्वं दुखम् - दुखम्" कह कर जो कुछ भी संसार में विद्यमान है, उसके प्रति मोह को व्यक्ति के दु:खों का मूल कारण माना है । सखी सम्प्रदाय में भी यह भाव पाया जाता है । सखी सम्प्रदाय के रसिक भक्तों के अनुसार मनुष्य संसार के सुख और दु:खों को भोगता हुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह संसार परिणामत: दु:खपूर्ण है । विषय के सुख ऐसे है, जैसे घाव को नख से सुजाने के समय प्राप्त होने वाला सुख । परन्तु बाद में वह घाव पक जाता है और उसका विष भी फैलता है -

बिहारीदास सुख विषय को, ज्यों रख नैक खुजाय ।
विष फैले सब अँग में पाछें पकें पिराय ।।

§बिहारिनदास साखी - 64§

दु:खवाद के अनेक उदाहरण सखी सम्प्रदाय में पाये जाते हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं -

§क§ कहे हरिदास पिंजरा के जनावर लौं,
तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि ।[1]

1- सम्पा० प्रभुदयाल मीतल, स्वामी हरिदासजी की वाणी - पृ० । से साभार

(ख) काहू कौ बस नाहिं तुम्हारी कृपा तैं सब होई बिहारी बिहारिनि ।
और (तो) मिथ्या प्रपंच, काहे कौ भाषिये, सु तौ है हारिन ।।[1]

इस प्रकार सखी सम्प्रदाय में भी दुःखवाद निराशावाद के रूप में विद्यमान है ।

(5) <u>अनित्यतावाद</u> – प्राचीन बौद्ध-धर्म के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्तनशील एवं अनित्य है । उनके अनुसार जो कुछ भी दिखायी सुनाई दे रहा है वह क्षण मात्र की सत्ता लिए हुए हैं अर्थात् वह क्षण मात्र के लिए है । यह संसार तथा संसार के सभी पदार्थ अथवा सम्बन्ध नाशवान है । अब क्योंकि संसार स्वयं क्षणिक है, अतः यहाँ किसी भी वस्तु या सम्बन्ध के प्रति मोह व्यक्ति के दुःख का कारण बनता है । यही अनित्यता की विचारधारा मध्यकालीन कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में सर्वत्र विद्यमान है । सखी सम्प्रदाय में यह अनित्यवाद इन पंक्तियों में इस रूप में लक्षित होता है –

1) हरि के नाम कौ आलस कत करत रे काल फिरत सर साँधे ।[2]

अथवा

2) जौं लौं जीवै तौं लौं हरि भजु रे मन और बात सब बादि ।
दिवस चारि कौ हला भला, तू कहा लैइगौ लादि ।।[3]

(6) <u>कामनिन्दा</u> – बौद्धों ने "काम" को "तृष्णा" कहा । उसके तीन रूप (काम तण्हा, भव तण्हा, विभव तण्हा) माने । उनके अनुसार कामना मात्र तृष्णा है । किसी भी प्रकार की इच्छा जब तक व्यक्ति में शेष होती है वह उसकी पूर्ति के लिए प्रयास करता है,और इस संसार रूपी

1- सम्पा० प्रभुदयाल मीतल, स्वामी हरिदासजी की वाणी – पृ० 2 से साभार
2- निम्बार्क माधुरी – पृ० 245 – 246 श्री बिहारीदासजी
3- ब्रजमाधुरी सार – पृ० 98

भव चक्र से मुक्त नहीं हो पाता । उसका मोक्ष नहीं होता । अतः सारे सम्बन्ध, सारी इच्छाओं को तिलान्जली देकर व कामना रहित होकर व्यक्ति को मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए । तभी वह संसार के चक्र ।जन्म-मृत्यु। से मुक्त हो सकता है । कामनिन्दा की यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य के मध्यकाल व विशेष कर कृष्ण भक्ति शाखाओं में प्रचुर मात्रा में देखी जा सकती है । सखी सम्प्रदाय में यह कामनिन्दा इन उदाहरणों में पाई जाती है -

।।। मन मेरे अजहू होहु सयानी ।
हरिपद कमल बिसारि विषय-रति कहा फिरत बौरानी ।।
सौड - सौड दाव उपाय करत नित जो अपने चित भानी ।
भयो बिबस आलस अभिमानी नेकु न हित नियरानी ।।
जीवत मृतक भयो लोभिन संग रहत लोभ लपटानी ।
बिहारीदास बिन बहुत बिगूचे कितेक बरन बखानी ।।[1]

।7। भाग्यवाद - बौद्ध धर्म में हमने देखा कि वहाँ कर्म बन्धनकारक माने गये हैं । कर्मों की अवहेलना करके व्यक्ति संन्यास की ओर प्रवृत्त होता है । किन्तु समाज कर्मों के निर्वाह पर टिका है । उसके लिए कर्म प्रमुख हैं । संन्यास में कर्म-बन्धनकारक हैं । वे व्यक्ति के मोक्ष में बाधक हैं । इसलिए वहाँ संन्यास का प्रावधान है । व्यक्ति को मात्र भाग्य के ऊपर निर्भर रह कर अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जिस प्रकार बिना कुछ कर्म किए अजगर अपना पेट भर सकता है । पंछी को दाना मिल सकता है, उसी प्रकार कर्म किए बिना भी व्यक्ति के निर्वाह की चिन्ता उसके स्वामी को रहती है । साधक अपने प्रयत्न की सफलता पुरुषार्थ के आधार पर नहीं, भगत्कृपा के आधार पर मानता है । यह भगवत्कृपा साधक द्वारा सर्वात्मभावेन परमात्मा की शरण में जाने पर सुलभ होती है । अतः स्वयं व्यक्ति को उद्यम करने की आवश्यकता नहीं है। यह भाग्यवाद अथवा पलायन-प्रवृत्ति सभी निवृत्ति मार्गी धर्मों की रही है । व्यक्ति निर्द्वन्द होकर अपने आराध्य की कामना मात्र करता है ।

1- निम्बार्क माधुरी - पृ० 245 - 246 - बिहारीदासजी

सखी-सम्प्रदाय में यह भाग्यवाद इस रूप में है -

1) काहू कौ बस नाहिं तुम्हारी कृपा तैं सब होई बिहारी बिहारिनी ।
और मिथ्या प्रपंच काहे कौं, भाषिये सु तौ है हारनि ।[1]

अथवा

2) हौं तौ आयो शरण तेरी तू माया करि स्वामी ।
हौं पतित तुम पतित पावन, निज जन ताप नसावन औसर बड़ भारी ।
अब कैसे मन कपटहिं राचत छिन-छिन दिन यह जांचत दीन दास बिहारी ।[2]

(8) <u>वैदिक धर्म का विरोध</u> - बौद्ध धर्म के अन्तर्गत जिस प्रकार वैदिक वर्ण व्यवस्था और याज्ञिक कर्मकाण्डों का विरोध किया गया है । उसी प्रकार सखी सम्प्रदाय में मान्य है कि भक्त, भक्ति के आगे समस्त वैदिक-कर्मों एवं विधि-निषेधों को व्यर्थ मानता है । वे तो मानते हैं कि -

विधि-निषेध को क्यों पचि मरे, प्रेम भक्ति में अन्तर परे ।।
मन क्रम वच जो उपजे भाव, तो लोक बेद सब बिसरि जाव ।।
स्वर्ग-नर्क की आस न त्रास, जे रस रसिक बिहारिनदास ।।[3]

इसी प्रकार -

भक्ति में कहा जनेऊ जाति
गायत्री संन्ध्या तर्पण तजि भजि माला मंत्र सजाति ।।[4]

1- श्री निम्बार्क माधुरी - पृ0 244, पद - 13 श्री बिहारिनीदास
2- श्री निम्बार्क माधुरी - पृ0 244, पद - 13 श्री बिहारिनीदास
3- डॉ0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव, वैष्णव साधना और सिद्धान्त, हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव - पृ0 185
4- डॉ0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव वैष्णव साधना और सिद्धान्त, हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव - पृ0 185

तांत्रिक बौद्धों की तरह सखी सम्प्रदाय भी भक्ति रूपी रस साधना में किसी भी प्रकार के विधि निषेध, जप तप, व्रत संयम की उपेक्षा करता है । वे तो कहते हैं कि सखी भाव के उदय होने पर लोक वेद की चिन्ता ही नहीं रहती । जगत और प्रेम जगत इन दोनों में धरती आकाश का अन्तर है । ये प्रेमी रसिक विधि-निषेध की भूमि को छोड़ कर प्रेम नभ-देश में मँढ़ जाते हैं -

सेवी नित्य विहार के, रसिक अनन्य नरेश ।
विधि-निषेध क्षिति छांडि कै, मढ़ै प्रेम नभ-देश ।।
मढ़े प्रेम-नभ देश, दिवाकर रूप विराजै ।
परस न पावै कोइ दरस कर कर्मठ लाजै ।।
भगवत कोक विशोक कमल फूले रस भेवी ।
तस्कर लुके उलूक मन्दमति विषयनि सेवी ।।[1]

सखी भाव की उपासना में मर्यादाओं के लिए अवकाश नहीं है । कोई विधि विधान यहाँ लागू नहीं होते रसिक तो अपने प्रिया-प्रियतम को ही निशि-वासर (रात - दिन) लाड़ लड़ाते रहते हैं । इसलिए समाज के साधारण व्यवहार उन्हें छू भी नहीं पाते । प्रत्यक्ष है कि प्रेम में नेम नहीं रहते । केवल वे नियम रहते हैं जो प्रेम के लिए स्वाभाविक और सहज हैं । उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रेमी के हृदय को स्पर्श नहीं करता । सखी भाव की प्रेमोपासना इसलिए इन साधारण विधि-निषेधों से परे रहती है ।

विधि-निषेध अरु कर्म-धर्म कोंफटकत षेह षरे ।
श्री बिहारीदास विस्वास बढ्यौ मन निरधक बन बिहरै ।।
(श्री बिहारिनदास सिद्धान्त के पद - 62)

इस प्रकार सामाजिक विधि निषेधों का त्याग सखी सम्प्रदाय में सहज ही देखा जा सकता है, जो बौद्ध धर्म का प्रभाव है ।

1- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभाव - पृ0 359 से साभार

पितरों का श्राद्ध-तर्पण, पिण्डदान भी वैदिक-धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है, किन्तु रसिकों ¤सखी भाव के रसिक¤ का विश्वास है कि भक्त की अनेक पीढ़ियों का स्वत: ही उद्धार हो जाता है, फिर अपने पूर्वजों को प्रेत मानना कदापि उचित नहीं है। पिण्डदान करने वाले भक्त कैसे अच्छे कहे जा सकते हैं? यह स्पष्ट रूप से वैदिक रीतियों का विरोध है, जो कि श्रमण-परम्परा से चला आ रहा था। वैदिक धर्म कर्म का प्रतीक है यज्ञोपवीत और भक्ति का प्रतीक है माला। इन दोनों का साथ कैसे संभव है? अर्थात् सम्भव नहीं है। कंठी और जनेऊ के साथ को नरहरिदासजी ने केर-बेर का साथ कहा है -

"कंठी जनेऊ न बनै, केर-बेर कौ संग"

इससे स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड और भक्ति साधना का निर्वाह एक साथ नहीं हो सकता। यह वेद विरोध प्राय: सभी मध्यकालीन कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में देखा जा सकता है, जो कि बौद्ध धर्म का प्रभाव है।

¤9¤ <u>सम्प्रदायवाद</u> - हमने देखा कि बौद्ध-धर्म आगे चलकर अनेक-यानों, उपयानों ¤सम्प्रदायों¤ में विभक्त होता चला गया। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय स्वयं को एक दूसरे से विशिष्ट व नवीन बताता गया। इस प्रकार थोड़े बहुत फेर-बदल के साथ नये-नये सम्प्रदाय उभरते चले गये। यही सम्प्रदाय-वाद की प्रवृत्ति कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भी मिलती है। राधा-कृष्ण को लेकर अनेक भक्त सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। राधा-कृष्ण को लेकर अनेक मत-मतान्तर विकसित हुए। किसी ने उनकी युगल स्वरूप की साधना की, किसी ने सखी रूप में उनका यशोगान किया। सखी सम्प्रदाय भी राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के समान मधुरोपासना का समर्थक रहा, किन्तु यहाँ भक्त चाहे वह पुरूष हो अथवा स्त्री, वह श्रीकृष्ण व राधा की युगल क्रीडाओं का आस्वादन मात्र सखी रूप में ही कर सकता है। अपने सम्प्रदाय की विशेषता बताते हुए इसी सम्प्रदाय के भक्त कवि भागवत-रसिक इस प्रकार लिखते हैं -

आचरज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना, जुगल मंत्र को जाप।।

जुगल मंत्र को जाप, वेद रसिकन की बानी ।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी ।।

इस प्रकार कृष्ण-राधा के युगल प्रेम को सर्वोच्च मानकर प्रेम-साधना मार्गी - अनेक सम्प्रदायों के साथ-साथ सखी सम्प्रदाय भी अस्तित्व में आया । यही सम्प्रदायवाद हम बौद्ध-धर्म के नाना रूपान्तरों के अन्तर्गत देख चुके हैं । मूल बौद्ध-धर्म में से समय-समय पर अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आये । बौद्ध धर्म अनेक यानो-उपयानों में विभक्त होता रहा जो कि मूल बौद्ध-धर्म से नगण्य सैद्धान्तिक मतभेदों के आधार पर ही स्वयं को सर्वथा नवीन या विशिष्ट बताते रहे । मध्यकाल में कृष्ण भक्ति काव्य के अन्तर्गत हम देखते हैं कि कृष्ण-राधा को लेकर अनेक भक्ति सम्प्रदाय अस्तित्व में आये । यद्यपि उनकी अनेक रूपों में भक्ति की गई । तात्पर्य यह है कि कृष्ण भक्ति में भी अनेक सम्प्रदाय सामने आये । यही सम्प्रदायवाद हम बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत देख चुके हैं ।

3़ सखी-सम्प्रदाय के साधना पक्ष पर बौद्ध धर्म का प्रभाव :

अब तक हमने सखी-सम्प्रदाय के विचार पक्ष पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव को देखा । इनके साधना पक्ष पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव की जब हम बात करते हैं तो हमें मूल रूप से यह स्मरण रख कर चलना होगा कि सखी सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय है, और यह रस है - प्रेमाभक्ति का । जैसा कि हम जानते हैं बौद्ध तांत्रिकों में प्रज्ञोपाय साधना भी रस साधना ३रागसाधना३ ही थी ।

जैसा पहले कहा जा चुका है, स्वामी हरिदासजी ने गोपी भाव की भक्ति को भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन माना । स्वामीजी कृत "केलिमाल" नामक पदावली विख्यात है, जिसमें अन्तरंग के मधुरतम भावों की अभिव्यन्जना हुई है । यह भी राधावल्लभीय सम्प्रदाय की भांति रसिक सम्प्रदाय है । "रसिकों के अनुसार आनन्द और सुख की सर्वोपरि सीमा है नित्यविहार । जहाँ भ्रम, तम, गम, मान, श्रम आदि का लवलेश भी नहीं है वर्ष, मास, पक्ष, प्रहर, पल अर्थात् काल की समस्त गणनाएं जहाँ व्यर्थ हैं । माया और उसके आवरण, सत, रज, तम, त्रिगुण जहाँ स्पर्श भी नहीं कर पाते जागतिक ~~सर्व~~ मन के काम-प्रेम आदि भी जहाँ अपनी गति नहीं रखते, जो सृष्टि के कारण प्रकृति पुरूष से भी परे है, उस अत्यन्त गोप्य प्रेम-समुद्र

की अगाध तरंगों में नित्य विलास करने वाले प्रिया-प्रियतम की नित्य केलि का परम शोभामय आनन्द प्राप्त करना ही रसिकों का अभीष्ट है । वृन्दावन की उन निकुंजों में शोभा की शोभा, प्रेम के प्रेम, सुख के सुख, रूप के रूप, स्नेह के सागर, रस के रस, महा-रिझवार उदार नित्यविहारी - विहारिणी आनन्द रस की नित्य क्रीडा में निरत हैं, उस ओर अबोले होकर ही चलना होता है । उस एकान्त कुंज में परम शान्ति है, सखियाँ भी अपने प्राण-प्रियतम की केलिको निकुंज-रन्ध्रों से देख अपने को तृप्त कर रही हैं । वहाँ किसी का शब्द नहीं हो रहा । पक्षियों का कलरव और मधुकरों की गूंज भी वहाँ नहीं पहुँच रही है । मृदंगादि वाद्य इस समय पूर्ण मौन धारण किये हैं, क्योंकि रंग महल में सुरत शय्या पर प्रेम के दो रूप परस्पर अंगों को अंगों में, मन को मन में, प्राणों को प्राणों में समाने का यत्न कर रहे हैं । प्रेम की अटपटी चाह रूप को पिये जा रही है, फिर भी नेत्र अगस्त के समान प्यासे ही रह जाते हैं । रूप प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा है, और उसके पान की चाह भी चौगुनी होती जा रही है । यह क्रीडा चल रही है । इसका आदि है न अन्त । यही है प्रिया - प्रियतम का नित्यविहार । रसिकों का चरम उपास्य तत्व । यही सर्वोपरि है ।[1] कृष्ण राधा की नित्य वृन्दावन में होने वाली अनवरत केलि क्रीडाओं में सखियों अथवा उनका भाव धारण करने वालों के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश संभव नहीं । इस नित्य लीला क्षेत्र का तो सखी भाव ही एक मात्र मार्ग है । अतः उस युगल केलि-रस-पान के निमित्त केवल मात्र सखी भाव की उपासना ही एक मात्र साधन है । श्रीप्रिया - प्रियतम की नित्य सखी के रूप में भावना कर, सखियों के मार्ग से ही जब रसिक उपासना करता है, तो श्रीराधा कृपा कर उसे अपनी सहचरी बना लेती है । यही सखी भाव की उपासना का चरम फल है । इनकी इस रस साधना को ध्यान में रखते हुए हम बौद्ध तांत्रिक सिद्धों की प्रज्ञोपाय (रागमार्गी) साधना से उसकी समानता खोजने का प्रयत्न करेंगे । जिस प्रकार बौद्ध-परम्परा की साधना में प्रथम स्थान गुरू का होता है वैसे रस-साधना में भी है । अतः हम सखी सम्प्रदाय की रस साधना में गुरू तत्व की विशेष भूमिका होने केकारण - सर्वप्रथम हम इसी तत्व पर विचार करेंगे -

----

1- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी - कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव - पृ0 312 - 313

§1§ <u>गुरू की श्रेष्ठता</u> - जैसा हमने पहले देखा कि बौद्ध धर्म में गुरू ही बुद्ध है। गुरू का स्थान सर्वोच्च है। वह "बुद्धरूप" है। वही मुक्ति प्रदाता है। स्वयं गौतम बुद्ध महागुरू थे। गुरू शिष्य पर कृपा करता है। बिना गुरू के प्रज्ञा प्राप्ति असंभव है। गुरू की शरण ही शिष्य के उद्धार में सहायक है। "ज्ञानसिद्धि" के लेखक इन्द्रभूति ने गुरू को रत्नत्रय - बुद्ध, संघ और धर्म तीनों का प्रतीक माना है, क्योंकि इनका ज्ञान उसी की कृपा से प्राप्य होता है -

गुरुर्बुद्धो भवेद् धर्मः संघश्चापि स एव हि।
प्रसादाद् ज्ञायते तस्य रत्नत्रयं वरम् ।।

गुरू को वस्तुतः साक्षात् ब्रह्म अथवा बुद्ध माना गया है। सहजयान के पूर्व से ही बुद्ध की कृपा, बोधिसत्व या गुरू की कृपा पर अवलम्बित मानी जाने लगी थी। अतः संसार में गुरू को ही एकमात्र हितु, सच्चा सहायक, सुमित्र आदि बताकर उसकी अर्चना, वन्दना, सेवा, शरणागति आदि को आवश्यक माना गया है। लक्ष्मींकरा प्रणीत अद्वयसिद्धिमें कहा गया है -

आचार्यात् परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
यस्य प्रसादात् प्राप्यन्ते सिद्धयोऽनेक धा बुद्धै ।।[1]

मध्यकालीन कृष्णभक्ति काव्य में प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने गुरू को इसी प्रकार विशेष महत्व प्रदान किया है। सखी सम्प्रदाय में भी गुरू की महत्ता अपरिमेय है। गुरू का अनन्त गुण कथन किया गया है। इनके अनुसार गुरू गोविन्द के समान है। साधक के जीवन में गुरू की शरण जाने का बड़ा महत्व है। वहाँ से ही शिष्य का नवीन जन्म होता है। गुरू की विशेषता यह होनी चाहिए, कि उसका मन संसार के विषयों से पूर्णतः विमुख हो,

---

1- डॉ० भट्टाचार्य - एन इन्ट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटरिज्म - पृ० 76 - 77 पर उद्धृत.

उसके हृदय में श्यामा-श्याम के प्रेम का अविचल राज्य हो, जो शिष्य को इस रसमयी साधना की ओर सच्चे मन से प्रेरित करें । वह गुरू ईश्वर के समकक्ष है । बिहारिनदासजी कहते हैं -

ज्यों गुरू त्यों गोविन्द, बिनु गुरू गोविन्द किन लह्यो ।
ज्यों मावस्या इन्दु, निगुरौ पंथ न पावई ।।[1]

साधना-पंथ में गुरू ही शिष्य का मार्ग दर्शन करता है । वह निस्पृही और उपकारी होता है । शिष्य को गुरू के प्रति पूर्ण श्रद्धालु होना चाहिए । दोनों का सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए जैसे गाय और बछड़े का । इधर बछड़ा रँभाता है, उधर गाय के थनों से दूध चूने लगता है, यही गुरू शिष्य का आदर्श सम्बन्ध है -

निस्प्रेही उपकारि गुरू शिष्य शुद्ध श्रद्धाल ।
रँभित ही थन च्वै चलै, ज्यों गौ-बच्छा प्रतिपाल ।।[2]

बौद्ध धर्म के तांत्रिक यानों में हमने देखा कि योग्य शिष्य को ही गुरू धर्म में प्रवेश की आज्ञा देता है । उनकी साधना में शिष्य का योग्य होना प्रथम अनिवार्यता है । गुरू योग्य शिष्य को ही बुद्ध कुल में सम्मिलित करता है । शिष्य अपनी [illegible] मुद्रा के साथ गुरू के पास जाता है, उसकी पूजा करता है, प्रार्थना करता है । गुरू प्रसन्न होकर अभिषेक करता है, क्योंकि बिना अभिषेक के बुद्धत्व प्राप्ति असंभव है । अभिषेक हो जाने के बाद शिष्य मंडल में अपनी प्रज्ञा के साथ प्रवेश कर साधना प्रारम्भ करता है । इस साधना में साधक अपने को बुद्ध और अपनी मुद्रा को प्रज्ञा का अवतार समझता है ।[3]

1- श्री बिहारिनदासजी - साखी-2

2- श्री बिहारिनदासजी की साखी-11

3- दे0 डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - पृ0 149

इसी प्रकार स्वामी हरिदास के विशुद्ध नित्य-विहार की प्राप्ति के लिए भी किसी मर्मी हरिदास-वंशी को ही गुरू बनाना होता है । जब गुरू शिष्य को प्रेम पंथ पर चलने योग्य समझता है, तब उसे नाम-मंत्र सुनाता है । शिष्य को उपासना की पद्धति बताता है । वास्तव में उपासना की विधि यहीं से प्रारम्भ होती है । यह शिष्य का नवनीन जन्म होता है । उसके अपने पूर्व जन्म के सब सम्बन्ध समाप्त होकर भगवत् सम्बन्ध प्रारम्भ होते हैं । अपने पूर्व नाम को छोड़कर वह गुरू प्रदत्त नाम को स्वीकार करता है और गुरू के बताये मार्ग पर चलता है । इस प्रकार हमने देखा कि बौद्ध-धर्म की तरह सखी सम्प्रदाय में भी गुरू का स्थान सर्वोच्च है । गुरू की आज्ञा सर्वोपरि है, इसीलिए कहा गया है कि श्रेष्ठ गुरू के पग भी धोकर पीने चाहिए -

सुनी-सुनी सब कोउ कहै, देखी कहै न कोय ।
देखी कह भगवत् रसिक, ताके पग पिय धोय ।।

(2) <u>प्रेमाभक्ति अथवा रागमार्ग</u> - बौद्ध तांत्रिकों की राग-साधना से हम परिचित हैं कि किस प्रकार उन्होंने महायानी शून्यता अथवा प्रज्ञा को स्त्री रूप में तथा उपाय अथवा करूणा को पुरूष में कल्पित किया । उन दोनों के (साधक तथा साधिका) अद्वय रूप को युगनद्ध कहा । इस युगल साधना से प्राप्त रस को महारस की प्राप्ति कह कर इसे ही सहजसुख, सहजरस, महासुख, समरसता आदि नाम दिये । "वज्रयानियों ने राग और महाराग की भी कल्पना की है । इनके अनुसार यह राग सांसारिक राग न होकर साधनात्मक राग है । कृपा या करूणा को ही राग कहा जाता है । यह रंजन करती है, प्रसन्न करती है, दुःखसागर से प्राणियों का उद्धार करती है, इसलिए इसे राग कहते हैं । मनुष्य राग से ही बंधन में पड़ता है और उसी से मुक्त भी होता है । अनंत जन्मों से उत्पन्न सुख को महाराग सुख कहा जाता है । इस संसार की उत्पत्ति और प्रणाश राग से ही संभव है । मनीषी लोग रागों से अपनी रक्षा के लिए राग (या महाराग) की सहायता लेते हैं । तात्पर्य यह है कि राग या महाराग सुख शब्दों का प्रयोग प्राणियों के उद्धार - प्रयत्न तथा सघन आंदन के लिए किया गया है जो प्रज्ञा और उपाय के व्यवस्थित और सुसंगत सम्मिलन से उत्पन्न होता है"[1]।

1- डॉ० नगेन्द्र उपाध्याय, तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - पृ० 145 पर

तात्पर्य यह है कि बौद्ध तांत्रिकों में प्रज्ञोपाय साधना के रूप में राग साधना प्रचलित थी जिसे ये कमल-कुलिश साधना अथवा बिन्दु साधना भी कहते थे । जो सामान्यत: योगी व योगिनी के अद्वय सम्बन्धों के ऊपर निर्भर थी । पहले संकेत किया जा चुका है कि प्रज्ञा या शून्यता को तांत्रिक प्रभाव से नारी शक्ति के रूप में कल्पित कर लिया गया था । धीरे-धीरे यह समझा जाने लगा था कि प्रत्येक साधिका या मुद्रा, प्रज्ञा या शून्यता का अवतार है । युगनद्ध साधना (राग साधना) इन दोनों के बीच होती थी । जिसे महासुख या परम-तत्व की प्राप्ति कहा जाता है । यही बौद्धों का राग मार्ग था । मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत प्राचीन प्रज्ञा व उपाय राधा-कृष्ण के रूप में प्रकट हुए । इनकी पारस्परिक प्रेमलीलाएं वृन्दावन के निकुंजों में होने लगी । ये प्रेमलीलाएं भक्तों की आराधना का विषय बनी । यही प्रेमाभक्ति हरिदासी सम्प्रदाय की साधना है । उदाहरणार्थ देखिए -

मय अमलादि पिया न पिया,
सुख प्रेम पीयूष पिया रे ।
नाम अनेक लिया न लिया,
रति स्यामा स्याम किया रे ।

इस सम्प्रदाय में समस्त आचार्यों और कवियों की वाणी में "नित्य विहार" के रस का ही उल्लेख प्रधान रूप से आता है ।[1] यही कारण है कि इन भक्तों के अनुसार रसिक जनों की बातें रसिक ही समझ सकते हैं । इसी सम्प्रदाय के किसोरदासजी की ये पंक्तियाँ इस तथ्य को यूँ प्रकट करती हैं -

तेरो मुख चंद्र, चकोरी मेरे नैना ।
अति आतुर - अनुराग लंपट भूल गई गति पहलुं लगै ना ।
अरबरात मिलने को निसदिन मिलई रहैं मनौं कबहुं मिलै ना ।
भगवत् रसिक रसिक की बातैं, बिन रसिक कोऊ समझि सकैं ना ।[2]

1- डॉ0 सत्येन्द्र - ब्रज साहित्य का इतिहास - पृ0 168

2- डॉ0 रतिभानुसिंह "नाहर", भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 351 से साभार

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए जहाँ प्रेम की महिमा का गान इस प्रकार गाया है -

1§ प्रेम देवता मिले बिना, सिद्धि होइ न कारज ।
भागवत् सब सुखदानि प्रकट मैं रसिकाचारज ।।

भगवत् रसिक जी हंस रूपी प्रेमोपासक की चर्या का वर्णन इस प्रकार करते हैं -

2§ वर अनन्य रसिका भरन रसिकन कौ अवतंस ।
विषय वारि निवारि पय, प्रकट कियौ हित हँस ।।
प्रकट कियौ हित हँस उपासक सुनि सुख पावै ।
नागर रसिक अनन्य स्वाद भेदी मिल गावैं ।।
भगवत यह रस रीति भावना करै निरन्तर ।
नीरस नरन विहाय अबुध मतसरी विदुषवर ।।

सखी सम्प्रदाय में उपस्थित राग साधना को हम निम्नलिखित रूप में अधिक स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं । जो बौद्ध राग साधना के निकट प्रतीत होती है । सखी भाव की उपासना ऐकान्तिक प्रेमोपासना है । प्रेम ही यहाँ इष्ट देवता है, प्रेम ही यहाँ साधन है । प्रेमी को प्रेम से पहिचानकर प्रेम हृदय में धारण करना चाहिए ।

प्रेम लक्षणा भक्ति प्रेम प्रण पारिये ।
प्रेमी प्रेम पिछानि प्रेम उर धारिए ।।

प्रेमी दम्पति नित्य ही प्रेम लीला में रत हैं । प्रेम के उत्साह में भरकर प्रेम के ही वचन बोलते हैं, प्रेम के ही अद्भुत बसन, भूषन शरीर पर धारण करते हैं । सखी ही उन प्रेम मूर्ति के केश अपने हाथों से संवारती है । x x x x प्रेम-रूप नित्य वृन्दावन धाम में नित्य निकुंजविहार में वर-वाम विवश हो रहे हैं । प्रेम रूप सहचरी की सम्पत्ति ये वर-वाम हैं । सखी उनका रूप देख कर सर्वदा सेवा में प्रस्तुत रहती है -

प्रेम-रूप श्रीजुत वृन्दावन धाम है ।
नित्य निकुंज बिहार, बिवस बर बाम है ।
प्रेम रूप सहचरी सम्पति बर बाम कै ।
हरि हाँ, दास किसोर सखी सेवत रूप जानि कै ।

यह प्रेम परात्पर प्रेम है । नित्य तत्व है । अत: प्रेम के ये सभी स्वरूप नित्य हैं । श्री बिहारी - विहारिन नित्य हैं । इनका परस्पर का स्नेह नित्य है । निकुंज नित्य हैं, सखी सहचरी नित्य हैं । इस नित्य आनन्द की उपासना भी नित्य है -

नित्य विहारिन नित्य विहारी ।
नित्य निकुंज मंजु सुख पुंजनि, नित्य नेह उपचारी
नित्य सखि सहचरि, संपति वन, नित्य मोद मनुहारी
नित्य उपास किसोरदास बसि नित आनन्द उदारी ।

श्री प्रिया प्रियतम की प्रेम लीला को निष्पन्न कराने वाली ये सखियाँ ही हैं, लीला में जितने भी सूक्ष्म से सूक्ष्म उपकरण हैं, वे सब सखियों के ही रूप हैं । सखियाँ ही समस्त प्रेम धाम, प्रेम धर्म, प्रेम धन की मूल हैं । समस्त प्रीति आल्हाद की सीमा वे ही है ।

लीला-बेलि के कारण ये सखियाँ विहारी - विहारिनि रूपी विचित्र बीज को अपने प्रेम जाल से सींचती हैं । वे कोक-कला गान करती हैं तभी प्रफुल्लित होकर श्याम तमाल से ▓ कनक बेलि के समान श्री विहारी से विहारिनि लिपट कर लीला मग्न हो जाती हैं -

प्रेम सलिल सखि सींचही हो, कोक कला गुण गाय ।
बीज विचित्र बिहारी विहारिन नाम ललित सरसाय ।।

सखियाँ प्रेम लीला में प्रेरक प्रेम का स्वरूप हैं, श्यामा-श्याम तडित और घन के समान हैं । इन दोनों की क्रीडा तभी हो सकती है, जब पवन रूपी सखी नभ में मेघ को उपस्थित करें, संघट्ट से तड़ित के दर्शन हों फिर दोनों की

क्रीडा हो । दोनों को मिलाने और अलग करने का काम भी पवन का ही है । जब प्रिया - प्रिय प्रेम में अत्यन्त विसुध हो जाते हैं, पवन रूपी सखी उनको अलग करती हैं, सचेत करती है तथा पुन: क्रीडा में प्रवृत्त करती है -

सखी सख्य मारुत, तड़ित घन वन स्यामा स्याम ।
दास किसोर मिलाप करि, अमिलत परम सकाम ।। ॥सिद्धान्त सरोवर॥

प्रिया प्रियतम की लीला की जो कामना अथवा इच्छा है, वह भी सखी का ही सूक्ष्म रूप है । जब-जब युगल की इच्छा होती है, उन अभिलाषाओं की अगणित शाखाएं सखी रूप धारण कर लेती हैं । इच्छा-सखी दोनों के अंगों को परस्पर मिलाती हैं और छवि की तरंगे उठने लगती हैं । प्रिया-प्रिय अंग-अंग से समाते जाते हैं । उन्हें परस्पर कुछ भी स्मृति नहीं रह जाती है -

हित की सखी संग हितकारी । सुरति सखी हिय सेज संवारी ।।
दोउ उर की जो अभिलाषा । ताकी भई जु अगनित शाखा ।।
चाह सखी लै मिलवत अंगा । ज्यों-ज्यों छवि के उठत तरंगा ।।
आपु - आपु में मिल-मिल जाहीं । तन की सुरति रहै कछु नाहीं ।।

प्रिया-प्रियतम दोनों का विहार कराने में सखियों को आनन्द मिलता है । उसी प्रेम से उनका हृदय भरा रहता है । आनन्दाश्रु उनके हृदय पर ढुलक जाते हैं । रूप भरी सखी की यह प्रेम मग्न दशा अत्यंत छविमय होती है । रस में मग्न सखी के तन-मन में वही भाव आविष्ट रहता है -

नख-सिख तें रस-मगन मन, तन तिहिं कृत आवेस ।
बिहारीदास लोचन ढरें, सोहत सहज सुदेस ।
॥बिहारिनिदास साखी - ।।9॥

उनका अंग प्रेम के सुरंग रंग में रंगा हुआ है । बिहारी - बिहारिनि के सुख में ही सखियों का अभंग अनुराग निहित है -

अंग-अंग प्रेम सुरंग रंग्यौ, मन निरख्यौ इक अंग ।
बिहारी बिहारिनिदासि संग, सुख अनुराग अभंग ।।
(बिहारिनिदास साखी - 120)

लाल ललना की अन्तरंग लीला में भी निजसखी का प्रवेश रहता है ललित लताओं के नीचे सुमन-सेज पर पौढ़े रति-समर में प्रवृत्त श्यामा-श्याम का व्यजन सखी करती है -

हौं वारी, बलिहारी करौं, अपने तन मन प्रान ।
तुम वे - वे तुम एक हौं, बलि मौसों कहा सयान ।

सुरति सुख में सोये स्यामा-स्याम के चरण पलोट कर सखी अपने को तृप्त करती हैं । विभिन्न प्रकार की अन्य सेवाओं के साथ ही सुरति-प्रसंग को सम्पन्न कराती हैं । विहार के अत्यधिक आवर्त होने पर, काम की तरुण तरंगों में पड़े श्यामा-श्याम सखियों के बल से ही तैर पाते हैं - अन्यथा वे प्रेम में पुन: अद्वय हो जायें । अद्वय को लीला के लिए द्वैत करना और द्वैत को अद्वैत बनाये रखना यह सखियों का ही कार्य है । वे श्यामा-श्याम को सुरति तरंगों के किनारे लाती हैं, उन्हें धैर्य देती हैं, उनका श्रम-निवारण करती है । इस प्रकार निरन्तर नित्यविहार चलता रहता है । नित्य विहार प्रिया-प्रियतम के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना मत्स्य के लिए जल और सखियों के लिए तो एक मात्र नित्य विहार ही आहार्य है ।[1]

इस प्रकार सिद्ध है कि सखी सम्प्रदाय में राग साधना ही प्रमुख है । यहाँ नित्य विहार के रूप में राधा-कृष्ण की अनवरत होने वाली केलि क्रीडाएँ तथा बौद्ध तांत्रिकों के गुप्त चन्द्रपुर में होने वाली राग साधना में गहरी समानता है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है । अत: सखी सम्प्रदाय बौद्धों की राग-साधना मूलक परम्परा से प्रभावित है ।

1- डॉ० शरण बिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव - पृ० 200 - 202 से साभार

(2) **महारस अथवा महाकेलि** - जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिकों ने प्रज्ञा व उपाय के अद्वय स्वरूप को महारस की प्राप्ति बताया और जिस तरह उन्होंने "गुप्त चन्द्रपुर" की कल्पना की, जहाँ पर प्रज्ञा व उपाय अहर्निश सामरस्य सुख के भोग में निमग्न रहते हैं, ठीक उसी प्रकार इन रसिक सम्प्रदायों ने भी राधा कृष्ण की कुंज लीलाओं अथवा संयुक्त प्रेम क्रीडाओं के लिए एक नित्य वृन्दावन की कल्पना की । यह नित्य वृन्दावन महाप्रेम और रस से युक्त है, तथा प्रिया प्रिय की सेवा अनुकूलता से संपादित करता है -

वनराज हमारे प्यारे हैं ।
नित्य सदा भूतल पर राजत, महाप्रेम रस भारे हैं ।
(ललित किशोरी, सिद्धान्त के पद - 24)

इस नित्य वृन्दावन में प्रिया-प्रियतम नित्यविहार करते हैं प्रेम और रस समानार्थवाची हैं । इस केलि से निसृत होने वाला रस प्रतिक्षण आस्वाद्य है, अतः प्रेम ही रस है । नित्य वृन्दावन वह है जहाँ पर कि राधा माधव अनवरत प्रेमलीलाओं में निमग्न रहते हैं । जिसे अन्यत्र नित्यवृन्दावन लीला कहा गया हरिदासी सम्प्रदाय में उसी को "निभृतकुंज" केलि कहा गया है । इन्होंने राधा कृष्ण की युगल क्रीडाओं को कहीं केलि अथवा कहीं महाकेलि के रूप में वर्णित किया है । "रससार" के रचयिता स्वामी रसिक देवजी ने कुंज से परे जो निभृतकुंज की परिकल्पना की है, उस निभृतकुंज की महाकेलि में तो किसी का गम नहीं । अतः उसके विषय में तो कौन क्या कह सकता है । रसिक देव के अनुसार तो कुंजों में भीड़-भाड़ का प्रवेश नहीं, पक्षियों का, मधुपों का वहाँ नाम नहीं x x x x x जहाँ प्रेम रस में मग्न राधा-कृष्ण विलास करते हैं ।[1]

कुंजकेलि सहज ये करैं, महाकेलि न्यारी विस्तरैं ।
भीरभार तहाँ जान न कोई, मुहाचुही जिय ज्वावत दोई ।।
जहाँ पँछी कौ नहीं प्रवेश, मधुकर धुनि कौं तहाँ न लेस ।
निभृतकुंज की सुनौ अब कथा, तहाँ शोभा की नाहीं तथा ।।

यह महाकेलि बौद्धों के महारस से काफी समानता लिए हुए है ।

1- डॉ० प्रेमस्वरूप, हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस परिकल्पना - पृ० 209 - 210

(4) <u>अमर्यादित श्रृंगार</u> - बौद्ध धर्म में अश्वघोष का नाम बहुत प्रसिद्ध है । उनकी रचना "बुद्ध चरित" में श्रृंगारिकता की पराकाष्ठा है । इसकी रचना अश्वघोष ने ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के आस-पास की थी ।[1] हम जानते हैं कि ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास बौद्ध-धर्म में तांत्रिक साधना का प्रवेश हो चुका था, जो कि उत्तरोत्तर राग-मार्ग की ओर बढ़ती गई । अश्वघोष के बुद्ध चरित में भी श्रृंगारिकता उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, जब स्त्रियाँ महात्मा बुद्ध का मार्ग रोकना चाहती हैं । x x x मद के वशीभूत होकर कुछ स्त्रियाँ कठिन संश्लिष्ट सुन्दर पीन स्तनों से कुमार का स्पर्श करती हैं ।[2] कुछ गिरने के बहाने भी उनका स्पर्श करती हैं ।[3] रहस्य की बातें सुनिए कहकर कुछ उनके कान में साँस छोड़ती हैं ।[4] कुछ हाथ मिलाने के लोभ से यहाँ भक्ति करें कहती हैं ।[5] और कुछ पीछे हटते कुमार को माला की रस्सियों से बाँधती हैं, तो कुछ बातों से ।[6] यह राग साधना कालान्तर में बौद्ध धर्म के नाना यानों उपयानों से वैष्णव सहजियाओं में आयी और थोड़े बहुत फेर बदल के साथ मध्यकालीन कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में ग्रहित कर ली गयी । बौद्ध तांत्रिकों के प्रज्ञा-उपाय राधा कृष्ण हो गये और तांत्रिक राग साधना यथावत चलती रही । जहाँ न सामाजिकसंबन्धों के लिए अवकाश था और न मर्यादा के लिए स्थान । इसी राग साधना का एक उदाहरण हरिदासी सम्प्रदासी में देखिए -

आउ लाल ऐसों मद पीजै, तेरी झगा मेरी अँगिया धरि
कुच की सुराही नैननि के प्याले, दारू देहुँगी यों अंकों भरि

(केलिमाल - पद - 74)

1- दे० डॉ० रतिभानुसिंह "नाहर", भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 212
2- बुद्ध चरित - 3/28 यहाँ रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 212 से
3- बुद्ध चरित - 3/30 यहाँ रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 211
4- बुद्ध चरित - 3/31 यहाँ रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 212
5- बुद्ध चरित - 3/32 यहाँ रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 212
6- बुद्ध चरित - 3/40 यहाँ रतिभानुसिंह नाहर, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ० 212

और भी -

प्रिया स्याम संग जागी है ।
शोभित कनक कपोल ओप पर दसन छाप लागी है ।
अधरन रंग छुटी अलि की बल सुरति रंग अनुरागी है ।
श्री विट्ठल विपुल कुंज की क्रीड़ा कामकेलि रस पागी है ।
§निम्बार्क माधुरी - पृ0 227 विट्ठलदेव§

उपर्युक्त पंक्तियों के भावसाम्य के लिए बौद्ध तांत्रिकों के ये दोहे देखिए -

तियड़ा चाँपि जोगिनि दे अँकवारी,
कमल-कुलिश घोंटि करहुं बियाली ।
जोगिनि तोहि बिनु क्षणहुं न जीयौं,
तवमुख चूमि कमल-रस-पीयौं । §गुण्डरीपा - चर्यागीत§

और भी -

एक न कीजे मंत्र न तंत्र, निज घरनी लेइ केलि करन्त ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सखी-सम्प्रदाय में श्रृंगार का स्वरूप भी सिद्धों के जैसा ही था - देखिए -

हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुंज महल के बासी ।
नई-नई केलि बिलौके क्षण-क्षण रति विपरीत उपासी ।।
§अनन्य निश्चात्मक ग्रन्थ§

इसी प्रकार "विपरीत रति" का यह उदाहरण हरिदासी सम्प्रदाय की राग साधना का स्पष्ट परिचायक है । देखिए -

रति विपरीत सुरीति सुहाई, रसना हरसि कहत लुभ्याई ।
छैल छकी छरहरी छबीली, लफि लफि लहलहात अरबीली ।।
सहज मुरनि बिथुरनि अलकनि की, शोभा स्वेद बिन्दु झलकन की ।
गोल कपोल तंबोल झलक छवि, नथ मोतिन की ज्योति रहि फबि ।।

रति प्यारी-प्यारी कहर, करति सुरति विपरीत ।
रति-पति की मूरति भईं लईं दुहुनि मन प्रीति ।।
मतवारी हारी, नहीं प्यारी रति विपरीत ।
झुकि उर सौं उर, लाइ कैं लेति अधर रस भीति ।।

§वल्लभ रसिक - पृ0 56§

15§ <u>अद्वय स्वरूप अथवा समरसता</u> - जैसा कि हम जानते हैं बौद्ध-सहजियान की क्रम-परिणति बंगाल के सहजिया-वैष्णव सम्प्रदायों में हुई थी । प्रज्ञा §नारी तत्व§ और उपाय §पुरूष तत्व§ का स्थान इनके यहाँ राधा-माधव ने ग्रहण कर लिया । आरोप साधना द्वारा प्रत्येक स्त्री राधा और प्रत्येक पुरूष अपने में कृष्ण तत्व का अनुभव करता है और तब दोनों के सम्मिलन में प्रज्ञोपाय §मिथुन रूप§ का सम्मिलन माना जाता है । इस प्रकार बौद्ध तांत्रिकों की साधना प्रज्ञोपाय की अद्वय अवस्था में सम्पन्न होती थी जिसे वे महारस की प्राप्ति कहते थे । उसी प्रकार मध्यकाल में कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में, विशेषकर रससाधकों ने राधा कृष्ण के युगल स्वरूप को महाकेलि अथवा महारस कहा । तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति साहित्य तक पहुँचते पहुँचते तांत्रिक राग साधना "भक्ति रस" के रूप में पहचानी जाने लगी । श्रृंगार रस व भक्ति में भेद समाप्त हो गया । कुछ भक्तों को रसिक शिरोमणि, रसिकाचार्य आदि सम्बोधन प्रिय लगने लगे । और वह रस था - कृष्ण राधा के युगल स्वरूप की साधना का । मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में सामरस्य भाव ही प्रमुख रूप से व्याप्त है । उसे अद्वितीय रस की संज्ञा से विभूषित करते हुए उनका मानना है कि रसिक ही रसिकजनों की बातें समझ सकते हैं । अर्थात् अधिकारी व्यक्ति ही इस युगल साधना को समझ सकता है । इससे पूर्व हमने देखा कि बौद्ध तांत्रिकों की गुह्य साधना के अन्तर्गत भी उपर्युक्त बात मान्य थी कि इस अद्वय साधना §प्रज्ञोपाय§ में अधिकारी व्यक्ति ही प्रवेश पा सकता है । वह साधना सामान्य जन के लिए नहीं थी । हरिदासी सम्प्रदाय में यह युगल रस अथवा समरसता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है -

सरस रंग रस बस भये एक प्रान द्वै देह ।[1]

और भी

ऐसी जीय होत जो जीय सौं जीय मिलै ।
तन सौं तन समाइ ल्यौं तौं देखौं कहा हो प्यारी ।।[2]

भावसाम्य के लिए देखिए बौद्ध सिद्धों की यह उक्ति -

जिमि नौन विलाय पानियहिं,
तिमि घरनी लेई चित्त ।
समरस जाये तत् क्षण,
यदि पुनि सौ सम नित्य ।।[3]

सखी सम्प्रदाय के अन्तर्गत कृष्ण राधा के अतिरिक्त जो सखियाँ हैं प्रिया-प्रियतम की प्रणय लीलाओं का रसास्वादन सखी भाव से करती हैं । वे उस प्रेम लीला में स्वयं भाग नहीं लेती अपितु उसका दर्शन मात्र करके आनन्दित होती हैं । प्रेम का गुण है क्रमशः अद्वय हो जाना । दो को पूर्णतया एक में विलीन कर देना । जिन दो के बीच प्रेम रहता है, वह युग्म [युगल] सर्वदा एक हो जाने के लिए ही लालायित रहता है । परन्तु दो के एक हो जाने पर प्रेम क्रीडाशील नहीं रह सकता । अतएव अपनी क्रीडा को बनाये रखने के लिए अपने को एक तीसरे रूप में और प्रकट करता है जिसका कार्य होता है, युग्म को प्रेम की लीला के लिए प्रेरित करना, उन्हें प्रेम की गहन अचेनता में से पुनः सावधान कर "अद्वय" को क्रीडा के लिए दो बनाये रखना, उस प्रेमलीला का तटस्थ रूप से आस्वादन लेना और प्रत्येक समय भोक्ता भोग्य की अनंत लीलाओं का साक्षी बने रहना । तात्पर्य यह है कि केलि की एकतारता को प्रतिपल बढ़ानेवाला ही प्रेम का एक और स्वरूप होता है, जिसके बिना प्रेमलीला का चलना असंभव ही है ।[4] रसिक जन राधा कृष्ण के प्रेम का मूल स्वरूप इन

1- सरसदेवजी, निम्बार्क माधुरी - पृ0 286
2- हरिदासजी, केलिमाल - पृ0 35
3- दोहाकोष, 32 [कण्हपा]
4- डॉ0 शरणबिहारी गोस्वामी - कृष्णभक्ति काव्य में सखी भाव - पृ0 25 पर

दोनों के युग्म ‡युगनद्ध‡ रूप में मानते हैं और इनकी रति को प्रोत्साहित कर आनन्दित होने का कार्य सखियाँ करती है । यही सखी सम्प्रदाय की विशेषता है । किन्तु अद्वय साधना ही यहाँ प्रधान रूप से है जिसे बौद्धों की युगनद्ध साधना के समकक्ष रखा जा सकता है । अत: स्पष्ट है कि सखी भाव का उपास्य तत्व युगल रूप है ।

"माई री सहज जोरी प्रकट भई, रँग की गौर श्याम घन दामिनी जैसे"
‡हरिदास केलिमाल‡

और देखिए -

"साँवरे पिया के सँग, भजी है मदन रँग,
मोद की उमँग अँग गुन गथ खोलहीं ।
जैसे दामिनी घन माहीं, ऐसी भामिनि तनु माहीं,
लखि अपनी परछाहीं हँसि-हँसि बोलहीं ।"

अत: कृष्ण राधा के रूप में अद्वय साधना यहाँ भी प्रचलित थी ।

‡6‡ वाममार्ग - जैसा कि हम जानते हैं बौद्धों में वाम-साधना का प्रवेश बौद्ध सिद्धों की प्रज्ञोपाय साधना के रूप में हो चुका था । ये तांत्रिक सिद्ध नारी तत्व को प्रज्ञा का तथा नर तत्व को उपाय या बुद्ध का अवतार मानते थे । प्रज्ञा को भगवती या मुद्रा तथा उपाय या बुद्ध को भगवान कहते हैं । प्रज्ञा और उपाय का अभिन्न रूप ही बोधिचित्त है । अत: इसी अभिन्न ‡बोधिचित्त‡ को प्राप्त करना उनका लक्ष्य होता था । मध्यकालीन रस सम्प्रदायों के अन्तर्गत यह वाममार्गी साधना राधा कृष्ण अथवा गोपी कृष्ण की रास लीलाओं के रूप में प्रकट हुई । सखी सम्प्रदाय की साधना को श्री ए0बार्थ अपनी पुस्तक - दी हिन्दू रिलीजन्स आफ इण्डिया" में वाममार्गीय मानते हैं । इसी प्रकार डॉ0 भण्डारक वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस ~~सिस्टिम्स~~ नामक अपने ग्रन्थ में "वैष्णव मत का अपकर्ष" शीर्षक के अन्तर्गत लिखते

हैं - "श्री कृष्ण से भी ऊपर राधा की उपासना ने एक ऐसे सम्प्रदाय को जन्म दिया है, जिसके अनुयायी स्त्रियों जैसी वेशभूषा धारण करते हैं । उनके जैसे साधारण व्यवहार करते हुए वे अपने को मासिक-धर्म से भी प्रभावित मानते हैं । उनके वेश और कार्य इतने अरूचिकर होते हैं कि वे प्राय: जनता में दिखाई नहीं देते और संख्या में भी कम हैं । उनका लक्ष्य है राधा का किंकरीत्व अथवा सखीत्व प्राप्त करना, और वे अपने को संभवत: सखी भावी कहते हैं ।[1]

इसी प्रकार डॉ० ग्रियर्सन का भी मत है - "वे कृष्ण की प्रेयसी राधा को ही सर्वोच्च मान कर उपासना करते हैं । वे राधा को कृष्ण की शक्ति मानते हैं जो व्यक्ति राधा के सखीत्व को धारण करता है वह अपने सखीत्व की पुष्टि के लिए स्त्रियों की वेशभूषा धारण करता है, उनकी जैसी वृत्ति और व्यवहार के साथ ही मासिक धर्म पालन का भी आचरण करता है । उनका लक्ष्य है कि वे भविष्य में वास्तविक सखी रूप प्राप्त करें व श्रीकृष्ण की प्रियता का आनन्द लाभ करें"।[2] सखी सम्प्रदाय के ही प्रसिद्ध भक्त कवि रसिक देव की पंक्तियाँ भी इसी बात का समर्थन करती हैं -

"उलटि लगै मन स्याम सों, प्रिया भाव ह्वै जाइ ।
सखीभाव तब जानियै पुरूष भाव मिटि जाइ ।।[3]

इसी प्रकार प्रोफेसर एच०एस० विल्सन ने अपने ग्रन्थ "ए स्केच आफ दि रिलिजस सेक्ट्स आफ दि हिन्दूज" तथा "हिन्दू रिलिजन्स" में लिखा है - "यह सम्प्रदाय भी राधा कृष्ण को उपास्य मानने वालों की एक प्रशाखा है, जो विशेषकर राधा वल्लभीय शाखा से ही निकली जान पड़ती है । कृष्ण की शक्ति के रूप में राधा ही उनकी विशिष्ट उपास्या है, अत: उनकी उपासना उपहासास्पद एवं अरूचिपूर्ण है । अपने का राधा की सखी के रूप में प्रदर्शित करने

1- डॉ० आर० जी० भण्डारकर - वैष्णव, शैव तथा अन्य धर्म - पृ० 86
2- डॉ० ए०जी० ग्रियर्सन - ऐनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड ऐथिक्स
3- रसिकदास की वाणी - साखी सं० 132

के लिए, उनके अनुयायी अपने लिंग के पूर्ण विपरीत, स्त्रीजनोचित्त वेशभूषा धारण करते हैं । केवल वस्त्र और आभूषण ही नहीं, उनके तौर तरीके और वृत्ति भी स्त्रियों जैसी ही होती है । उनका यह असंगत आचरण-ग्रहण, स्पष्टत: हिन्दू विश्वासों के अनुसार भी समाज में आदृत नहीं है ।"

हमारे अनुसार यद्यपि सखी सम्प्रदाय राधावल्लभीय के बहुत निकट है किन्तु राधावल्लभीय सम्प्रदाय से ही उसका जन्म मानना संगत नहीं है । क्योंकि जैसा हम पहले देख चुके हैं दोनों की साधना पद्धति में अन्तर है । राधावल्लभ वाले राधा को आराध्या मानते हैं और श्रीराधा उनकी भक्ति में सर्वप्रथम पूज्य है, जबकि सखी सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की भक्ति उनकी सखी रूप में की जाती है । अर्थात् यहाँ सखी भाव प्रमुख है । किन्तु सखी सम्प्रदाय में वामसाधना (स्त्री रूप में पुरूषों का सखी बन कर भक्ति करना) निश्चित ही थी, स्वयं इस सम्प्रदाय के आचार्य ललिता सखी का अवतार माने जाते रहे । सभी प्रमुख भक्तगण कृष्ण राधा की किसी न किसी सखी के नाम से प्रसिद्ध थे । डॉ० एठवार्थ का भी मानना है कि सखी सम्प्रदाय में स्वयं को राधा की सखी मानते हुए ये भक्तगण वेशभूषा, व्यवहार और मनोवृत्ति भी स्त्रियों सी अपनाते थे ।[1] इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों के मत से भी हमारे विचार को बल मिलता है कि सखी सम्प्रदाय में वामाचार था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रेमलक्षणा भक्ति को अश्लील व विलासिता की प्रवृत्ति जगाने वाली मानते हैं - "वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई ।[2] सखी सम्प्रदायवालों का मानना है -

उलटि लगै मन स्याम सौं, प्रिया भाव ह्वै जाइ ।
सखी भाव तब जानियै पुरूष-भाव मिटि जाई ।।

(रसिकदास की वाणी - सखी सम्प्रदाय - 132)

1- दि हिन्दू रिलिजियन्स ऑफ इण्डिया - 1891 - पृ0 236

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 80

(7) भुक्तिमुक्ति साधना - बौद्ध धर्म में योग और भोग का जो एकीकरण तांत्रिक सम्प्रदायों ने अपना लिया था, वह भुक्ति मुक्ति साधना आगे मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में आसानी से गृहीत कर ली गई। बौद्ध सहजयानियों ने माना कि शरीर को कष्ट देने की अपेक्षा शरीर को उसकी स्वाभाविक गतिविधियों में लाने से, अर्थात् चित्त वृत्तियों को रोके बिना भी योगी साधना कर सकता है। इस साधना का व्यवहारिक पक्ष उन्होंने कमलकुलिश साधना के रूप में उपस्थित किया। कमल और कुलिश दोनों के बीच में स्थित होने से सुख की प्राप्ति होती है। इसमें पराये और अपने का भाव नहीं रहता। चित्त मुक्त गजेन्द्रवत् रमण करने लगता है। इस साधना के लिए न घर में रहने की आवश्यकता है न वन में जाने की। जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ जाना चाहिए। x x x x x इसे ही ऋजुमार्ग (उजूवाट) की साधना कहते हैं।[1] यही ऋजुमार्ग उन्हें भोग में भी योग का लाभ प्रदान करने में सक्षम है। इसलिए वे मानते हैं कि खाते, पीते, सुख पूर्वक रमण करते हुए भी व्यक्ति परमपद (निर्वाण) को पा सकता है -

खाते पीते सुखहिं रमन्ते, नित्य पूर्ण चक्रहू भरन्ते।
अइस धर्म सिध्यइ परलोका नाथ पाइ दलिया भयलोका।।
(दोहकोष सरहपा - 24)

इस प्रकार विषय लिप्त रहकर भी वह कमल के समान विषयों में बंध नहीं पाता और उसका उद्धार हो जाता है -

विषय रमन्त न विषय विलिंपै, पद्रुम हरइ ना पानी भीजै।
ऐसेहि योगी मूल बुझन्तो, विषय बहै ना विषय रमन्तो।
(सरहपा - 64)

1- दे० डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - पृ० 179

ये तांत्रिक बौद्ध सिद्ध मानते हैं कि जिस प्रकार विष का उपचार विष से ही संभव होता है, उसी प्रकार भव के बंधन से मुक्त होने के लिए भी इस संसार के भोगों का उपभोग करना भी आवश्यक है -

जिमि विष भक्षि विषहिं प्रलुप्ता
तिमि भव भोगे भवहिं न युक्ता ।।[1]

यही कारण है कि तांत्रिक बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि" में वर्णन आता है कि सम्पूर्ण त्रैधातुक विश्व का कर्ता वज्रनाथ है और अपने उपभोग के लिए ही उसने इसका निर्माण किया है -

संभोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषत:
निर्मित वज्रनाथेन साधकानाम् हिताय च ।।

उनका विश्वास था कि "रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुक्ष्यते" (हेवज्रतंत्र) इसलिए साधक पन्चकामों के त्याग व तपस्या से स्वयं को पीड़ित न करे, योग्यतंत्रानुसार सुखपूर्वक बोधि को प्राप्त करें -

पन्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत ।
सुखेन साधयेद बोधिं योगतन्त्रानुसारत: ।।[2]

तात्पर्य यह है कि बौत्र तांत्रिकों ने भोग और योग में एकरूपता बताकर जिस"भुक्ति मुक्ति दायक साधना" का समर्थन किया वही भुक्ति मुक्ति साधना मध्यकालीन वैष्णव भक्ति में सर्वत्र देखी जा सकती है । सखी सम्प्रदाय भी इसका अपवाद नहीं है । वहाँ साधक कृष्ण राधा की प्रणय लीलाओं का सखीभाव से दर्शन करते हुए उनकी प्रणय केलियों का रसास्वादन करता है । प्रेम और काम अथवा प्रेम (योग) और काम (भोग) वहाँ भी समान रूप से एक दूसरे के पूरक हैं । सखी सम्प्रदाय के श्री ललिताकिशोरी देव ने इसका स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है -

---

1- म0म0 राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी काव्य धारा - पृ0 175 पर
2- योगतंत्र - बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा - पृ0 347 से साभार

जहाँ काम तहँ प्रेम है, जहाँ प्रेम तहँ काम ।
इन दोउन की सन्धि में विलसत स्यामास्याम ।।
बिछुरन देत न प्रेम है, अंगनि उमगि सुकाम ।
रस सागर विलसत रसिक रोम-रोम अभिराम ।।
दरश तु कहिए प्रेम रस परस केलि सुख काम ।
गौर श्याम आनन्दित रोम-रोम अभिराम ।।

सखी भाव की उपासना तो पूर्णरूपेण रागसाधना है । जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिक साधना में परम देवता "भुक्तिमुक्ति प्रदाता" माना जाता है, उसी प्रकार इन रसिक जनों का मानना है कि नित्यविहार में होने वाली राधाकृष्ण की लीलाओं में सखी भाव से प्रवेश करने पर, उन प्रणय लीलाओं का आस्वादन करने पर ही मुक्ति की राह बनती है । अर्थात् भोग ही योग है ।

4। सारांश :

इस प्रकार हमने देखा कि राग साधना की जो परम्परा बौद्ध तांत्रिक यानों से प्रारम्भ हुई थी व समयानुसार अथवा परिस्थितियों के अनुकूल थोड़े बहुत फेरबदल के साथ वैष्णव साधना में प्रविष्ट हुई । सिद्धों के भोग में योग अथवा भुक्ति मुक्ति दायक सिद्धान्त ने वैष्णव सम्प्रदायों में प्रवेश किया और रागसाधना का प्रवाह चलता रहा । आराध्य का स्वरूप बदला पर सिद्धान्त वही पुराने रहे । मध्यकालीन कृष्ण भक्ति साधना का आधार बौद्ध सिद्धों की प्रज्ञोपाय साधना बनी । इस तांत्रिक रागसाधना से भागवत का रागतत्व विशेषकर दशम स्कन्ध पूरी तरह प्रभावित है । जैसा कि हम पूर्व अध्याय में भी संकेत कर चुके हैं, पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक भारत में बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदायों का व्यापक प्रभाव था । पाँचवी शती के आस-पास गुप्त शासकों के काल में पुराणों के नवीन संस्करणों का प्रतिपादन हुआ ।[1] उन्हें पुनः लिखा गया अथवा संशोधित किया गया । इस पुनः संस्करण की प्रक्रिया में

1- देखिए डॉ० रामरतन भटनागर - मध्य युगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास ।

उस समय देश में जो प्रवृत्ति (रागसाधना) मुख्य रूप से व्याप्त थी, उसका प्रभाव कतिपय पुराणों पर पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं । भागवत् पुराण इससे विशेष प्रभावित हुआ । कृष्णभक्ति के प्राय: सभी सम्प्रदाय भागवत् को अपनी भक्ति का आदि स्त्रोत स्वीकारते रहे हैं । कृष्ण भक्ति के रसिक सम्प्रदायों का आधार भी श्रीमद्भागवत् माना जाता है । किन्तु जैसा कि डॉ0 मलिक मोहम्मद ने लिखा है - "यदि मध्यकालीन भागवत धर्म की प्रस्थानत्रयी के समान आदरणीय एवं प्रमाण ग्रंथ "भागवत की "रासपन्चाध्यायी" का आविर्भाव नहीं हुआ होता तो इसमें सन्देह ही रहता कि रसिक सम्प्रदायों को आदर मिल पाता या नहीं अथवा वे मर्यादित रह पाते या नहीं"।[1]

सखी भाव की साधना में श्रीराधा का प्रधान्य होने के कारण अनेक विद्वान इसे शक्तिवादी मानते हैं । शाक्तों की साधना पद्धति तांत्रिक थी । डॉ0 फर्कुहार जैसे विद्वानों का मत है रासलीला वाममार्गियों की चक्र पूजा की नकल मात्र है ।[2] बंगाल के वैष्णव साधक चण्डीदास नित्यानन्द, वीरभद्र आदि की मान्यता तांत्रिकों में होने के कारण कुछ विद्वान रस (वैष्णव) साधकों तांत्रिक मानते हैं ।[3] सखी सम्प्रदाय ने सखी भाव की उपासना की वह रस-रीति प्रवर्तित की, जिसमें एकमात्र प्रेम का ही प्रकाश है । प्रिया-प्रियतम के नित्य मिलन व केलि क्रीडाओं का श्रवण व अवलोकन करना ही जिनका उद्देश्य हैं । श्री बिहारिनदासजी कहते हैं कि मेरे प्रिया-प्रिय को विहार के सुखसार के अतिरिक्त और कुछ सहाता ही नहीं । तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रदाय में एकमात्र तत्व-वस्तु नित्यविहार ही है जो कि बौद्ध तांत्रिकों के राग मार्ग के बहुत निकट प्रतीत होती है । जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिक कहीं प्रज्ञा को पुरूष व उपाय को स्त्री मान लेते थे उसी प्रकार सखी सम्प्रदाय में स्वयं को (पुरूष होते हुए भी) स्त्रीवेश में भक्तगण राधा की सखी मानते थे ।

1- भक्ति आन्दोलन के प्रेरणा स्त्रोत - पृ0 54

2- डॉ0 फर्कुहार, एन आउट लाइन ऑफ दि रिलिजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया - पृ0 315

3- डॉ0 फर्कुहार, एन आउट लाइन ऑफ दि रिलिजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया और दे0 मेडिवल मिस्टिसिज्म ऑफ इण्डिया, क्षिति मोहन सेन - पृ0 53, 54

कदाचित् यही कारण है कि डॉ0 श्यामसुन्दर दास "कबीर ग्रन्थावली" की भूमिका में सखी सम्प्रदाय के विषय में क्षुब्ध होकर लिखते हैं - "सखी सम्प्रदाय ने मनुष्यों को सचमुच "स्त्री" मान कर व उनके नाम भी स्त्रियों जैसे रखकर, यहाँ तक कि उनसे ऋतुमती स्त्रियों का अभिनय करा कर माधुर्य भाव के रहस्यवाद को वास्तववाद का रूप दे दिया है। रहस्यवाद के वास्तववाद में पतित हो जाने के कारण ही सदुद्देश्य से प्रवर्तित अनेक धर्म सम्प्रदायों में इन्द्रिय-लोलुपता का नारकीय नृत्य देखने में आता है।" यही कारण है कि देशी व विदेशी अनेक विद्वानों ने इस सम्प्रदाय की साधना को वैष्णव धर्म के पतन का प्रतीक माना।

इस अध्ययन से निष्पन्न निष्कर्ष आगे उपसंहार के अन्तर्गत दिये जायेंगे।